

संत साहित्य में 'लोकमंगल' की अवधारणा

एवं वर्तमान संदर्भ में उसकी प्रासंगिकता

डॉ.हरेन्द्र सिंह

पंजाब विश्वविद्यालय परिसर

चण्डीगढ़, भारत

शोध संक्षेप

अयं निज परोवेति गणनालघुचेतसाम्

उदारचरितानाम तु वसुधैव कुटुम्बकम्

विश्व बंधुत्व की भावना से ओत-प्रोत यह सूत्र भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है। इस भावना को मध्यकालीन संत साहित्य ने खूब पल्लवित किया है। आज जब विश्व में प्रतिस्पर्धा, वैमनस्य, जाति, रंग व लिंग के आधार भेदभाव, धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर भेदभाव की भावना प्रखर रूप से व्याप्त है, तो सहज है कि संत साहित्य में निहित लोकमंगल की अवधारणा को वर्तमान संदर्भ में समझा जाए। सम्पूर्ण संत काव्य के केन्द्र में लोक निहित है। तत्कालीन परिवेश में अन्याय, अत्याचार, शोषण और उत्पीड़न व्याप्त था। रूढ़ियों से समूचा समाज ग्रस्त था। शासक वर्ग प्रजा को तरह तरह की यातनाएं देते थे। ऐसे समय में एक कोमल हृदय संत इन हृदय विदारक दृश्यों को कैसे सहन कर सकता था। प्रस्तुत शोध पत्र में संत काव्य में लोकमंगल की भावना पर दृष्टिपात किया गया है।

लोक का आशय

'लोक' शब्द को प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। पहला शास्त्रीय अर्थ में इहलोक, परलोक एवं त्रिलोक तथा दूसरा प्रचलित अर्थ में 'जनसमुदाय' के रूप में। यहां दूसरे अर्थ को समझा जाना चाहिए। 'लोकमंगल' की भावना के अन्तर्गत सभी जीवों पर दया-दृष्टि रखना, सभी को अपने से अलग न समझना तथा सभी के दुःख-दर्द में सहायक होना आदि बातें आती हैं। लोक को मात्र जनसमुदाय तक सीमित नहीं रखा जा सकता है। लोक का अर्थ है जनसमुदाय और उसका परिवेश। परिवेश का अर्थ अपने आप में विस्तृत है। संत कबीर, नामदेव, रामानन्द, रैदास, दादूयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, चरणदास, पलटू साहब, सहजोबाई, गरीबदास इत्यादि संतों ने अपनी वाणियों द्वारा लोकमंगल की भावना का

प्रचार-प्रसार किया। संत कवि समाज के ऐसे द्रष्टा थे जो सभी प्राणियों को सुखी देचना चाहते थे। वे समाज के सभी दुःख-दारिद्र्य को अपने सिर पर लादकर लोगों के बोझ को हल्का करने में विश्वास रखते थे। संतों की यह परोपकार भावना उनके लोकमंगल का विशिष्ट स्वरूप है। इस भावना का पक्षधर बड़ा उदारचेता होता है। वह किसी को ठगने में विश्वास न करके स्वयं ठगा जाने में विश्वास रखता है। उदार चरित बनकर विश्व बंधुत्व के लोकमंगल के मार्ग पर चलने वाला श्रेष्ठ मनुष्य अपने अहं का शमन कर भाईचारे का संदेश देता है और जिसके हृदय में प्राणीमात्र के प्रति प्रेम की भावना है। लोकमंगल की भावना में मनुष्य अपने सम्पूर्ण स्वार्थों का विसर्जन कर व्यष्टि से समष्टि में समाहित हो जाता है।

लोक मंगल के तत्त्व

लोकमंगल के तत्त्व वे तत्त्व हैं जो लोक में व्याप्त दुःख को मिटाने में सहायक हो। जैसे अहिंसा, समता, परोपकार, सहयोग, प्रेम, करुणा, दया, क्षमा। तात्पर्य यह है कि वही काव्य लोकमंगल की कसौटी पर खरा उतर सकता है, जिसमें व्यक्ति मात्र के लिए मंगल की भावना निहित हो। अहिंसा लोकमंगल का पहला तत्त्व है, क्योंकि इस संसार में सभी प्राणियों को समान रूप से जीने का अधिकार है। अहिंसा ही परम धर्म है। संत मल्लूदास का विश्वास है कि हाथी से लेकर चींटी तक सभी प्राणियों में ईश्वर का वास है। इसलिए जीवों पर हिंसा करना ईश्वर के गले पर चाकू चलाने जैसा है। इसके साथ ही वे समस्त वनस्पति जगत में भी ईश्वर का वास मानते हैं। इसलिए वनस्पतियों को नुकसान पहुंचाना परोक्ष रूप से हिंसा ही है।

हरी डार ना तोड़िए, लागे छूरा बान।

दास मल्लूका यों कहैं अपना सा जिव जान।।

गुरु नानक देव भी हिंसा का विरोध करते हैं। उन्होंने सभी जीवों को आत्मवत् बनाने का उपदेश दिया है। इसी प्रकार संत पलटूदास जीवों के प्रति दया भाव रखने की प्रेरणा देते हैं।

समता की भावना लोकमंगल का एक और अनिवार्य तत्व है। संत कवियों ने मुक्त हृदय से समता का समर्थन व भेद-भाव का विरोध किया है। उनका विश्वास है कि जब समस्त प्राणिमात्र का सृजनकर्ता एकमात्र ईश्वर है तो आपसी भेदभाव कैसा ? यहां कौन ऊंचा है और कौन नीच ? कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र ? सभी में एक ही तत्व का समावेश है, और वह परमतत्व है परमात्मा। संत गरीबदास कहते हैं,

कौन छत्तीस एक ही जाती, बहम बीज सबकी उतपाती।

एकै कुल एकै परिवारा, बहम जीव का सकल पसारा।।

तत्कालीन समाज में वर्ण भेद, जाति भेद अपन विकराल रूप में व्याप्त थे। 'तत्कालीन समाज वर्ण-व्यवस्था की विषमता के साथ-साथ आर्थिक असमानता से बुरी तरह ग्रस्त एवं जर्जर था। एक वर्ग अत्यन्त धनी तो दूसरा अत्यन्त दीन। दोनों के बीच भयंकर खाई थी। जिसे पाटना कठिन था। सन्तों ने इन दोनों वर्गों को एक धरातल पर लाने के लिए धन की निन्दा की। उनके लिए धन का संचय कोई महत्व नहीं रखता।' कबीर का मानना है कि धन का संचय एक आवश्यकता के अनुरूप ही होना चाहिए-

साई इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाय

में भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाए।।

करुणा और प्रेम की भावना लोकमंगल का एक और प्रमुख और आवश्यक अवयव है। संत कवि प्रेम और करुणा को जीवन की उच्चतम और उदात्त अनुभूति मानते हैं। क्योंकि करुणा और दया ही सभी धर्मों का आधार है। प्रेम की प्राप्ति होने पर साधक का अहंभाव तिरोहित हो जाता है। वह स्वयं को भूल जाता है। इस स्थिति में उसके मन में किसी के प्रति वैर-राग-द्वेष की भावना नहीं रहती है। संत मल्लूदास करुणा के महत्व को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि जिसके हृदय में करुणा का भाव जागृत हो जाता है, वही महानतम् व्यक्ति है-

दया धर्म हिरदै बसै बोलै अमृत बैन।

तेई ऊंचे जानिए, जिनके नीचै नैन।

काम, कोध, मोह, लोभ और अहंकार मनोविकार लोकमंगल के अवरोधक हैं। अतः इनका शमन

करना अति आवश्यक है। इनके शमन के बिना समाज में लोकमंगल की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती है। कबीरदास कहते हैं कि-

कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।

भक्ति करे कोई सूरमा, जाति बरन कुल खोय।।

अंध विश्वास, मिथ्याचार, आडम्बर, वर्गभेद, वर्णभेद, छुआछूत इत्यादि समाज को विघटित करते हैं। इनका समूल नाश करना संतों का प्रमुख ध्येय रहा है। तत्कालीन समाज कई रूढ़ियों से ग्रस्त था। इन सभी असहज चीजों को जड़ से समाप्त किए बिना किसी भी स्वस्थ समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उस युग में हिन्दू और मुसलमान दो प्रमुख धर्म थे। भोली-भाली जनता को लोक-परलोक के नाम पर गुमराह किया गया, क्योंकि तथाकथित धर्म गुरुओं की कथनी और करनी में अन्तर था। जनता इनके षडयंत्रों से धर्मभीरु हो गई थी। और वे वड़ी चालाकी से जनता का शोषण करने लगे थे। कबीर ने बड़ी ही बेबाकी से दोनों धर्मों के मिथ्याडम्बरों का विरोध किया व पुरोहितों व मौलवियों को कड़ी फटकार लगाई। कबीर निम्नलिखित दोहे में हिन्दू व मुसलमान दोनों की दुर्बलताओं को प्रस्तुत करते हैं-

अरे इन दोऊ राह न पाई।

हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई।

वेस्या के पायन्ह तर सोवै यह देखो हिन्दुवाई।

मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।

खाला केरी बेटि ब्याहै घरहिं में करै सगाई।

सामाजिक एकता के संदर्भ में श्यामसुन्दरदास का कथन है कि, 'कबीर स्वतंत्र प्रकृति के मनुष्य थे। उनके चारों ओर शारीरिक दासता का घेरा पड़ा हुआ था। वे इस बात का अनुभव करते थे कि शारीरिक स्वातंत्र्य के पहले विचार स्वातंत्र्य

आवश्यक है। जिसका मन ही दासता की बेड़ियों से जकड़ा हो, वह पांवों की जंजीरें क्या तोड़ सकेगा। हिन्दू और मुसलमानों के बीच मतभेद का एक कारण ब्रह्म के विषय में भ्रान्ति भी था। इसलिए संतों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया। यह उस युग की सबसे बड़ी मांग भी थी। संतकाव्य में लोकमंगल की अवधारणा के संदर्भ में डॉ.ओमप्रकाश त्रिपाठी का कथन है कि, 'संकुचित, दूषित, घृणित, कृत्रिम, पाखण्डी, ढोंगी एवं नर्क-गर्त में आकण्ठ डूबते-उतराते तत्कालीन समाज को संतों की 'लोकमंगल' की भावना ने एक जबरदस्त टेका दिया था। कभी हतोत्साहित न होने की वृत्ति, असफलताओं से जूझने का साहस एवं निर्भय मानसिकता संतों के व्यक्तित्व की निजी विशेषताएं थीं। अपनी इन्हीं विशेषताओं का वे समाज के जन-जन में संचार करना चाहते थे। इसके लिए संतों ने अपनी वाणियों को अक्खड़ता, दीवानगी और फकीरी लहजे से लैस किया। विरोधी परिस्थितियों एवं अभावग्रस्तता के बाबजूद उनकी फक्कड़ाना मस्ती में कोई फर्क नहीं आया। चूंकि संतों का संदेश कल्याणकारी था और उनकी वाणियों में 'लोकमंगल' की भावना कूट-कूट कर भरी थी, इसीलिए लोकमानस ने उनके महत्व को समझा, परखा और अपनाया।'

वही साहित्य कालजयी होता है जिसकी प्रासंगिकता सदैव बनी रहे। कालजयी का तात्पर्य शाश्वत या सार्वकालिक माना जाना चाहिए। इस संदर्भ में संत साहित्य वर्तमान में भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कि तत्कालीन संदर्भ में था। आज भी भारतीय सामाजिक कल्याण समूचा विश्व वर्णभेद, वर्गभेद, रंगभेद, जाति-पांति के दंशों को झेल रहा है। धर्म, संप्रदाय के नाम पर दंगे फसाद, जेहाद के नाम पर मासूम व निरीह जनता



का कत्ल किया जा रहा है। कई देश अपनी तानाशाही के बल पर दूसरे देशों पर अपना आधिपत्य जमा रहे हैं तथा वहां की जनता को निर्वासित कर रहे हैं। क्या इस संदर्भ में संत साहित्य की उपादेयता नहीं है ? क्या अब भी वसुधैवकुटुम्बकम् की भावना की आवश्यकता नहीं है ? जब समूचा विश्व तकनीकी रूप से वैश्विक ग्राम में तब्दील हो गया है, आज इसके मूल में बाजार प्रमुख है। हमें संतों के उपदेशों की आज भी आवश्यकता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त सभी समस्याएं आज भी भारतीय समाज में व्याप्त हैं। समाज में लोगों का आर्थिक शोषण किया जा रहा है। इससे अनाचार को बढ़ावा मिलता है, व आपसी वैमनस्य की भावना प्रबल होती है। समाज पूंजीपतियों व श्रमिक वर्गों में बंटा है। संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं। पारिवारिक सम्बन्धों में मात्र औपचारिकता रह गई है। सामाजिक रिश्ते चरमरा रहे हैं।

वर्तमान युग में निरंतर नैतिक मूल्यों का हास हो रहा है। समाज में घटने वाली तमाम अप्रिय घटनाओं का कारण यही है। स्त्रियों के साथ बलात्कार, लिंगभेद इत्यादि खरतनाक प्रवृत्तियां समाज में प्रचलित हैं। जनता को सदाचरण, प्रेम, सद्भाव व धन संचय न करने की शिक्षा देने वाले तथाकथित धर्म गुरुओं व संतों का नैतिक पतन हो रहा है। आए दिन कोई न कोई धर्म गुरु स्कैन्डल में घिर जाता है। उनकी जीवन पद्धति आलीशान है। करोड़ों की चल-अचल संपत्ति के मालिक ये बाबा लोग सत्संग में भक्तों को दया, सेवा, सत्कार, त्याग व परोपकार का उपदेश देते हैं। उनके उपदेश समागमों में भक्तों के लिए ही होते हैं, स्वयं के लिए नहीं। और तो और भक्त

भी कौन से आज्ञाकारी होते हैं कि उन उपदेशों पर अमल करने लगे। सत्संग खत्म होने पर वे सब कुछ भूल जाते हैं, व अपनी सहज मानवीय प्रवृत्ति में रम जाते हैं। अगर ऐसा होता तो 'ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय' की उक्ति पर अमल कर कबीर या उनकी परम्परा के संतों के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होती। वर्तमान साहित्य समाज सापेक्ष है। कमोबेश हर साहित्यकार की मूल संवेदना में 'लोकमंगल' की भावना ही होती है। निःसंदेह सामाजिक एकता, सौहार्द व मानवधर्म की स्थापना में संत कवियों का योगदान अतुलनीय है।